लेखक—

श्रीजयदयालजी गोयन्दका

प्रकाशक तथा मुद्रक—

गीताप्रेस, गोरखपुर

गीतोक्त

संन्यास या सांख्ययोग

एक सज्जनका प्रश्न है कि—

"गीतामें वर्णन किये हुए संन्यासका स्वरूप क्या है ?"

गीताका मर्म बतलाना बड़ा कठिन कार्य है। गीता ऐसा गहन ग्रन्थ है कि इसपर अब तक अनेक बड़े बड़े विद्वान् साधु महात्माओंने अपनी बुद्धिका उपयोग किया है और अपने अपने विचार प्रकट किये हैं, इतना होते हुए भी इस गीताशास्त्रके अन्दर गोता लगानेवालोंको इसमें नये नये अमूल्य रत्न मिलते ही चले जा रहे हैं ऐसे शास्त्रका रहस्य क्या बतलाया जाय ? यद्यपि गीताशास्त्रपर विवेचन करना मेरी बुद्धिसे बाहरकी बात है तथापि मैं अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार अपने मनमें समझे हुए साधारणभावोंको आप लोगोंकी सेवामें उपस्थित करता हूं मेरा उद्देश्य किसी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, मत या किसी टीकाकारपर कुछ भी आक्षेप

करना नहीं है । केवल मनके भावोंको बतला देना मात्र ही मेरा उद्देश्य है ।

गीतोक्त संन्यासके सम्बन्धमें बड़ा मतभेद है,

(१) एक पक्ष कहता है कि गीतामें संन्यास और कर्मयोग नामक दो निष्ठाओंका वर्णन है जिनमें केवल संन्यास ही मुक्तिका प्रधान और प्रत्यक्ष हेतु है और वह संन्यास 'सम्यक् ज्ञानपूर्वक सम्पूर्ण कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना है' अर्थात् शास्त्रोक्त संन्यासाश्रमका ग्रहण करना है।

(२) दूसरा पक्ष कहता है कि यद्यपि शास्त्रोक्त संन्यासाश्रम अर्थात् ज्ञानपूर्वक सम्पूर्ण कर्मोंके स्वरूपसे त्यागसे भी भगवत्-प्राप्ति हो सकती है परन्तु गीतामें इसका प्रतिपादन नहीं है, यदि कहीं है तो वह अत्यन्त गौणरूपसे है। गीता तो केवल एक मात्र निष्काम कर्मयोगका ही प्रतिपादन करती है एवं गीतामें आये हुए संन्यास शब्दका समावेश भी प्रायः निष्काम कर्म-योगमें ही है।

(३) एक तीसरा पक्ष है जो कर्मोंके स्वरूपसे त्याग किये जानेवाले शास्त्रोक्त संन्यास आश्रमको मानता हुआ भी गीतामें कथित सांख्य और कर्मयोग नामक दोनों भिन्न भिन्न निष्ठाओंको भगवत्-प्राप्तिके दो सर्वथा स्वतन्त्र साधन समझता है और सांख्य या संन्यास शब्दसे संन्यास आश्रम नहीं समझता ।

परन्तु सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर सर्व-व्यापी सच्चिदानन्द घन परमात्मामें एकी भावसे स्थित रहनेको ही संन्यास कहता है।

गौणरूपसे और भी कितने ही पक्ष हैं परन्तु उन सबका समावेश प्रायः उपर्युक्त तीन पक्षोंके अन्तर्गत हो जाता है। अब इस बात पर विचार करना है कि इनमेंसे कौनसा पक्ष अधिक युक्तियुक्त और हृदयग्राही है। इस पर क्रमशः विचार किया जाता है।

(१) पहले पक्षके सिद्धान्तानुसार यदि संन्यासको ही मुक्तिका एक मात्र हेतु मान लेते हैं तो गीतामें जहां पर भगवान्‌ने कहा है।

"यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते"
(५.५)

'जो स्थान ज्ञानयोगियोंद्वारा प्राप्त किया जाता है वही निष्काम कर्मयोगियोंद्वारा भी प्राप्त किया जाता है' इन वाक्योंका कोई मूल्य नहीं रहता। यहां भगवान्‌ने स्पष्टरूपसे सांख्ययोगके समान ही निष्काम कर्मयोगको भी स्वतन्त्र साधन स्वीकार किया है।

इसके सिवा इसी अध्यायके द्वितीय श्लोकमें संन्यास और कर्मयोग दोनोंको परम कल्याण करनेवाले कहा है और कर्म-

योगको संन्यासकी अपेक्षा उत्तम बतलाया है इस अवस्थामें यह कैसे माना जा सकता है कि निष्काम कर्मयोग मुक्तिका स्वतन्त्र साधन नहीं है? अवश्य ही दोनों साधनोंके स्वरूपमें बड़ा भारी अन्तर है और दोनोंके अधिकारी भी दो प्रकारके साधक होते हैं एक साथ दोनों साधनोंका प्रयोग नहीं किया जा सकता। भिन्न भिन्न समयपर दोनों साधनोंका प्रयोग एक साधक भी कर सकता है इससे यह तो सिद्ध हो गया कि दोनों ही साधन मोक्षके भिन्न भिन्न मार्ग हैं अब विचारना यह है कि यहां संन्यास शब्दसे शास्त्रोक्त संन्यास आश्रम विवक्षित है या और कुछ? अर्जुनके इस प्रश्नसे कि--

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥

(गीता ५. १)

'हे कृष्ण! आप कर्मोंके संन्यासकी और कर्मयोगकी भी प्रशंसा करते हैं इसलिये इन दोनोंमें जो एक निश्चित कल्याण-कारक साधन हो उसको मुझे बतलाइये' यदि यह मान लिया जाय कि गीतामें संन्यास शब्दसे शास्त्रोक्त संन्यास आश्रम या नियत कर्मोंका स्वरूपसे त्याग विवक्षित है तो यह बात युक्तियुक्त नहीं जंचती क्योंकि इसके पहिले भगवान्ने ऐसे किसी आश्रम-विशेषकी या कर्मोंके स्वरूपसे त्याग करनेकी कहीं प्रशंसा नहीं

की है कि जिसके आधारपर अर्जुनके प्रश्नका यह अभिप्राय माना जा सके। भगवान्‌ने तो इससे पहले स्थान स्थानपर ज्ञानकी और वैराग्यादि सात्त्विकभावोंकी एवं शरीर इन्द्रिय और मन-द्वारा होनेवाली संपूर्ण क्रियाओंमें कर्तृत्व अभिमानके त्यागकी ही प्रशंसा की है इतनाही नहीं इसके साथ ही साथ ज्ञानीके शरीर-द्वारा नियतकर्म किये जानेकी भी आवश्यकता दिखलाई है।
(अ० ३. २०-२१-२२-२३, २५-२६-२७, २९, ३३; अ० ४.१५)

सम्यक् ज्ञानपूर्वक संन्यास आश्रमसे सुगमताके साथ मुक्ति होती है इसमें कोई सन्देह नहीं परन्तु मेरी समझमें उस मुक्तिमें संन्यास आश्रम हेतु नहीं, उसमें हेतु है सम्यक् ज्ञान जो सभी वर्ण और आश्रमोंमें उपलब्ध हो सकता है। (गीता ६. १-२)

इसके सिवा यह भी गीतामें निर्विवाद सिद्ध है कि सम्पूर्ण कर्मोंका सर्वथा स्वरूपसे त्याग कभी हो भी नहीं सकता।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
(गीता ३.५)

यदि कोई कुछ त्याग भी करे तो गीताने उसे तामसी त्याग माना है।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥
(१८.७)

और केवल उस स्वरूपसे बाहरी कर्मोंके त्यागसे सिद्धिकी प्राप्ति भी नहीं बतलायी।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

(गीता ३.४)

बल्कि इसीके अगले श्लोकमें वाणी और इन्द्रियोंसे भी हठपूर्वक कर्म न कर मनसे विषयचिन्तनकी निन्दा की है और उसे मिथ्याचार बतलाया है। आगे चलकर वशमें की हुई इन्द्रियोंसे अनासक्त होकर कर्मयोगके आचरण करनेवालेको श्रेष्ठ बतलाया है (अ० ३. ६–७)

ऐसी अवस्थामें बाहरी कर्मोंके स्वरूपसे त्यागको ही संन्यास मान लेनेपर उसमें मुक्तिकी संभावना नहीं रहती और यदि मुक्ति नहीं होती तो भगवान्‌ने जो पांचवें अध्यायमें कहा है-

"संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ"

(५.२)

'कर्मोंका संन्यास और निष्काम कर्मयोग यह दोनों ही परम कल्याणप्रद हैं' इस सिद्धान्तमें बाधा आती है। क्योंकि केवल बाहरी कर्मोंका स्वरूपसे त्यागी तो उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार तामस त्यागी कहा गया है।

यहांका यह 'निःश्रेयस' और तीसरे अध्यायके चतुर्थ श्लोकका 'सिद्धिम्' शब्द दोनों ही कल्याणवाची हैं। यदि उस, सिद्धिको मुक्तिका वाचक न मानकर नीची अवस्थाका मानते

हैं तो केवल कर्मत्यागसे कल्याण न होनेका पक्ष और भी पुष्ट होता है, जब नीची श्रेणीकी सिद्धि ही कर्मत्यागसे नहीं मिलती, तब मोक्षरूप परम सिद्धि तो कैसे मिल सकती है ? इन सब बातोंका विचार करनेसे यही प्रतीत होता है कि गीतामें संन्यास शब्द ज्ञानयोगका वाचक है और इसका सम्बन्ध अन्तःकरणके भावोंसे ही है किसी बाहरी अवस्था विशेषसे नहीं। न किसी वर्ण या आश्रमसे ही इसका सम्बन्ध सिद्ध होता है यह तो भगवत्-प्राप्तिका एक परम साधन है जो सभी वर्ण और सभी आश्रमोंमें काममें लाया जा सकता है।

लोगोंकी यह मान्यता कि, सांख्यनिष्ठाका अधिकार केवल संन्यास आश्रममें ही है, ठीक नहीं मालूम होती। यदि ऐसा होता तो भगवान्‌के द्वारा दिये हुए सांख्यनिष्ठाके विस्तृत उप-देशमें जो गीताके द्वितीय अध्यायमें श्लोक ११ से ३० तक है युद्धके लिये अर्जुनको उत्साहित नहीं किया जाता। (देखो गीता २. १८) अष्टादश अध्यायमें जब त्याग और संन्यासका स्वरूप जाननेकी जिज्ञासासे अर्जुनने भगवान्‌से स्पष्ट रूपसे प्रश्न किया तब भगवान्‌ने पहले त्यागका स्वरूप 'फलासक्ति त्याग' बतलाकर (देखो अ० १८ श्लोक ९ से ११) सांख्य याने संन्यासका सिद्धान्त सुननेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हुए आगे चलकर यह स्पष्ट कहा है कि पांच कारणोंसे होनेवाले प्राकृतिक

कर्मोंमें जो अशुद्ध बुद्धि होनेके कारण केवल (शुद्ध) आत्माको कर्ता मानता है वह दुर्मति आत्मस्वरूपको यथार्थ नहीं देखता, याने कर्तापनका अहंकार रखनेवाला सांख्ययोगी नहीं है। सांख्ययोगी वही है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
(१८.१७)

जिसके 'मैं कर्ता हूं' ऐसा भाव नहीं रहता और जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें कभी लिप्त नहीं होती। अतएव अहंकारका त्याग ही संन्यास है। स्वरूपसे कर्मोंके त्यागको भगवान् संन्यास मानते तो मनसे त्याग करनेकी बात नहीं कहते (देखो अ० ५. १३)

इससे यह सिद्ध होता है कि सांख्य अथवा संन्यास कर्मोंके स्वरूपसे त्यागका नाम नहीं है और संन्यासके समान ही निष्काम कर्मयोग भी मुक्तिका प्रत्यक्ष हेतु है।

(२) द्वितीय पक्षके अनुसार यदि यह माना जाय कि गीतामें केवल निष्काम कर्मयोगका ही वर्णन है और संन्यास शब्दका भी समावेश इसीमें होता है तो यह बात भी ठीक नहीं जंचती क्योंकि अर्जुनकी शंकाओंका निराकरण करते हुए भगवान्‌ने दोनों निष्ठाओंका अधिकारी भेदसे स्वतन्त्र वर्णन किया है।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥
(अ० ३. ३)

दूसरी अध्यायमें तो इन दोनों निष्ठाओंका सविभाग पृथक् पृथक् वर्णन है। सांख्ययोगका वर्णन कर चुकनेके बाद भगवान्‌ने कहा है–

ऐषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोंगे त्विमां शृणु ।
(गीता २. ३९)

'तेरे लिये यह सांख्ययोग कहा गया अब निष्काम कर्मयोग सुन' । ऐसे और भी अनेक वचन हैं जिनसे दोनों निष्ठाओंका स्वतन्त्र वर्णन सिद्ध होता है (देखो गीता अ०५ श्लोक १से५) इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनों निष्ठाओंका फलरूपसे पर्यवसान एक परमात्मामें ही है परन्तु दोनोंका स्वरूप सर्वथा भिन्न है दोनों निष्ठाओंके साधकोंकी कार्य और विचारशैली तथा दोनोंके भाव और पथ सर्वथा भिन्न हैं। निष्काम कर्मयोगी साधन कालमें कर्म, कर्मफल, परमात्मा और अपनेको भिन्न भिन्न मानता हुआ कर्मोंके फल और आसक्तिको त्यागकर ईश्वर परायण हो ईश्वरार्पणबुद्धिसेही सब कर्म करता है(देखो गी०३.३०;४.२०; ५.१०; ९.२७–२८; १२.११–१२; १८.५६–५७)

परन्तु सांख्ययोगी मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें वर्तते हैं ऐसे समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर केवल

सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अनन्यभावसे निरन्तर स्थित रहता है। (देखो गीता ३.२८; ५. ८–९, १३; ६.३१; १३. २९–३०; १४. १९–२०; १८.१७, ४९ से ५५)।

निष्काम कर्मयोगी अपनेको कर्मोंका कर्ता मानता है, (५.११) सांख्ययोगी अपनेको कर्ता नहीं मानता (५.८–९) निष्काम कर्मयोगी अपनेद्वारा किये कर्मोंके फलको भगवदर्पण करता है (९.२७–२८) सांख्ययोगी मन और इन्द्रियोंद्वारा होनेवाली क्रियाओंको कर्म ही नहीं मानता (१८. १७) निष्काम कर्मयोगी परमात्माको अपनेसे भिन्न मानता है। (१२.६–७)सांख्ययोगी सदा अभेद मानता है (६.२९–३१; ७. १९; १८. २०) निष्काम कर्मयोगी, प्रकृति और प्रकृतिके पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार करता है (१८. ९, ६१) सांख्ययोगी एक ब्रह्मके सिवा अन्य किसी भी सत्ताको नहीं मानता, (१३.३०) यदि कहीं कुछ मानता हुआ देखा जाता है तो वह केवल दूसरोंको समझानेके लिये अध्यारोपसे, यथार्थमें नहीं, वह प्रकृतिको माया मात्र मानता है वस्तुतः कुछ भी नहीं मानता; निष्काम कर्मयोगी कर्मोंसे फल उत्पन्न हुआ करता है ऐसा समझता हुआ अपनेको फल और आसक्तिका त्यागी समझता है, फल और कर्मकी अलग अलग सत्ता मानता है, सांख्ययोगी न

तो कर्म और फलोंकी सत्ता ही मानता है और न उनसे अपना कोई सम्बन्ध ही समझता है; निष्काम कर्मयोगी कर्म करता है; सांख्ययोगीके अन्तःकरण और शरीरद्वारा कर्म स्वभावसे ही होते हैं; वह करता नहीं; (५. १४) निष्काम कर्मयोगीकी मुक्तिमें हेतु उसका विशुद्ध निष्कामभाव, भगवत् शरणागति और भगवत्कृपा है; (२. ५१; १८. ५६) सांख्ययोगीकी मुक्तिमें हेतु एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अभिन्न भावसे निरन्तर गाढ़ स्थिति है (५. १७–२४) इसलिये फलमें अविरोध होते हुए भी दोनों साधनोंमें परस्पर बड़ा भेद है और दोनों सर्वथा स्वतन्त्र है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रीभगवान्‌-ने अर्जुनके प्रति उसके उपयुक्त समझकर भक्तियुक्त निष्काम कर्मयोगके लिये ही आज्ञा दी है परन्तु गीतामें सांख्य निष्ठाका वर्णन भी कम विस्तारसे नहीं है, स्थान स्थानपर भगवान्‌ने सांख्य निष्ठाकी बड़ी प्रशंसा की है। कर्मयोगका विशेषत्व इसी लिये बतलाया है कि वह सुगम है और उसका साधन देहा-भिमानी भी कर सकता है परन्तु सांख्ययोग इसकी अपेक्षा बड़ा कठिन है (देखो गीता अ० ५. २–६) इससे यह सिद्ध होता है कि गीतामें दोनों ही निष्ठाओंका वर्णन है। न केवल कर्मयोगका ही प्रतिपादन किया गया है और न केवल सांख्ययोगका ही और न संन्यास शब्दका समावेश कर्मयोगमें ही होता है।

इस विवेचनसे यह पता लग जाता है कि गीतामें दोनों निष्ठाओंका वर्णन है और उनमें सांख्य या संन्यासका अर्थ कर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं है।

(३) अब तीसरे पक्षके सिद्धान्तोंपर विचार करनेसे यह विश्वास होता है कि इसके सिद्धान्त अधिक युक्तियुक्त और हृदयग्राही हैं। वास्तवमें संन्यास शब्दका अर्थ गीतामें सांख्य या ज्ञानयोग ही माना गया है। संन्यास, सांख्ययोग, ज्ञानयोग आदि शब्दोंसे केवल एक ही निष्ठाका वर्णन है। गीताके अध्याय १८में ४९ से ५५ वें श्लोक तक इसी ज्ञाननिष्ठाका विस्तृत वर्णन है ४९वें श्लोकमें 'परमां नैष्कर्म्य सिद्धिम्' का प्राप्त होना जिस संन्याससे बतलाया गया है वह संन्यास ज्ञान-योग ही है। इन श्लोकोंके विवेचनसे पता लगता है कि अभेद-रूपसे परब्रह्म परमात्माका जो ध्यान किया जाता है और उस ध्यानका जो फल होता है उसीको परा भक्ति कहते हैं और वही इस ज्ञानयोगकी परा निष्ठा है। इसप्रकारके ज्ञानयोगका साधक सम्पूर्ण संसारके पदार्थों और कर्मोंको त्रिगुणमयी मायाका ही विस्तार समझता हुआ अपनेको द्रष्टा साक्षी मानता है (१४. १९–२०) और वह ब्रह्मसे नित्य अभिन्न होकर ब्रह्ममें ही विचरता है (६. ३१; ५. २६) वह संपूर्ण कर्मोंका विस्तार मायामें ही देखता है (देखो गीता

३. २७–२८) वह शरीर और मन इन्द्रियोंद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनका अत्यन्त अभाव समझता है। इन्द्रियां ही अपने विषयोंमें विचरती हैं, आत्मा इनसे अत्यन्त परे और भिन्न है इस तरह समझकर साधनकालमें वह अपनेमें कर्तृत्व भावको नहीं देखता परन्तु मायाकी जगह भी वह एक ब्रह्मका ही विस्तार समझता है और यों समझनेसे उसकी दृष्टिमें एक ब्रह्मसे भिन्न और कोई भी वस्तु नहीं रह जाती। संपूर्ण संसारको वह एक ब्रह्मका ही कार्यरूप देखता है। साधन कालमें प्रकृति और उसके कार्योंको आत्मासे भिन्न, अनित्य और क्षणिक देखता हुआ तथा अपनेको अकर्ता, अभोक्ता मानकर एक आत्माको ही सब जगह व्यापक समझ कर साधनमें रत रहता है और अन्तमें जब एक ब्रह्मसत्ताके सिवाय और सबका अत्यन्त अभाव हो जाता है तब वह उस अनिर्वचनीय परमपदको प्राप्त हो जाता है, उसकी दृष्टिमें एक ब्रह्मसत्ताके अतिरिक्त और कुछ रहता ही नहीं। मन बुद्धि अन्तःकरणादि भी ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं एक वासुदेवके भिन्न कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती। (गीता ५. १७; ७. १९)

वह इस चराचर संसारके बाहर भीतर और चराचरको भी परब्रह्म परमात्माका रूप ही समझता है। (देखो गीता १३.१५)।

ऐसे संन्यासीके द्वारा साधन और सिद्धकालमें लोकदृष्टिसे

कर्म तो बन सकते हैं परन्तु उन सर्व कर्मोंमें और संसारके संपूर्ण पदार्थोंमें एक ब्रह्मसे भिन्न दृष्टि न रहनेके कारण तथा कर्तापनके अभावसे उसके वे कर्म, कर्म नहीं होते (देखो गीता १८.१७)

उपर्युक्त विवेचनसे यही सिद्ध होता है कि तीसरे पक्षके सिद्धान्तानुसार गीताका संन्यास, संन्यास आश्रम नहीं है परन्तु संपूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर एक सर्व-व्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ऐक्यभावसे नित्य स्थित रहना ही है और इसीलिये उसका उपयोग सभी वर्ण और आश्रमोंमें किया जा सकता है। इसीका नाम ज्ञानयोग है और यही गीतोक्त संन्यास है।

इसीके साथ साथ यह भी ठीक है कि गीतामें कर्मयोग-नामक एक दूसरे स्वतन्त्र साधनका भी विस्तृत वर्णन है जिसमें साधक फल और आसक्ति त्यागकर भगवत् आज्ञानुसार केवल भगवत् अर्थ समत्व बुद्धिसे कर्म करता है। यही, कर्मयोग गीतामें, समत्वयोग, बुद्धियोग, कर्मयोग, तदर्थकर्म, मदर्थ-कर्म और मत्कर्म आदि नामोंसे कहा गया है। इस निष्काम कर्मयोगमें भी भक्तिप्रधान कर्मयोग मुख्य है और इसीसे साधक को शीघ्र सिद्धि मिलती है। (६. ४७)

इस प्रकार दोनों निष्ठाओंकी सिद्धि होती है। इससे कोई यह न समझे कि मैं शास्त्रोक्त संन्यास आश्रमका विरोध करता हूं या संन्यास आश्रममें स्थित पुरुषकी सम्यक् ज्ञानके द्वारा मुक्ति नहीं मानता परन्तु मेरी समझसे गीताका संन्यास किसी

आश्रम विशेषपर लक्ष्य नहीं रखकर केवल ज्ञानपर अवलम्बित है अतएव गीतामें सबका ही अधिकार है।

मैं तो यह भी मानता हूं कि सांख्यनिष्ठाके साधकको संन्यासआश्रममें अधिक सुविधाएं हैं। अस्तु

कुछ लोगोंके मतमें गीताका सांख्य शब्द महर्षि कपिल प्रणीत सांख्यदर्शनका वाचक है परन्तु विचार करनेपर वह बात उचित नहीं मालूम होती गीताका सांख्य कपिलजीका सांख्यदर्शन नहीं है इसका सम्बन्ध ज्ञानसे है। गीता अ० १३. १९–२०में प्रकृति पुरुष शब्द आते हैं जो सांख्यदर्शनसे मिलते जुलतेसे लगते हैं परन्तु वास्तवमें इनमें बड़ा अन्तर है।

सांख्यदर्शन पुरुष नाना और उनकी सत्ता भिन्न भिन्न मानता है परन्तु गीता एक ही पुरुषके अनेक रूप मानती है। (देखो गीता अध्याय १३. २२; १८. २० गीतामें भूतोंके पृथक् पृथक् भाव एक ही पुरुषके भाव हैं। सांख्यदर्शन सृष्टिकर्ता ईश्वरको स्वीकार नहीं करता। परन्तु गीता सृष्टि-कर्ता ईश्वरको मुक्त कण्ठसे स्वीकार करती है। इससे यही सिद्ध होता है कि गीताका सांख्य महर्षि कपिलके सांख्यसे भिन्न है।

एक बात और है। गीताका ध्यानयोग दोनों निष्ठाओंके साथ रहता है। इसीलिये भगवान्ने ध्यानयोगको पृथक् निष्ठा-के रूपमें नहीं कहा। ध्यानयोग, निष्काम कर्मके साथ भेद

रूपसे रहता है और सांख्ययोगके साथ अभेदरूपसे रहता है सांख्ययोग तो निरन्तर सच्चिदानन्दघन परमात्माका अनन्य-भावसे ध्यान हुए बिना सिद्ध ही नहीं होता।

इन दोनों निष्ठाओंके बिना केवल ध्यानयोगसे भी परम-पदकी प्राप्ति हो सकती है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

(गीता १३. २४)

(इसके सिवा देखो ९. ४–५, ६; १२. ८)

परन्तु यह निष्ठा भिन्न नहीं समझी जाती क्योंकि अभेद-रूपका ध्यान सांख्ययोग और भेदरूपका ध्यान कर्मयोगका समझा जा सकता है। ध्यानयोगका साधन अलग इसीलिये बतलाया गया है कि यह कर्मोंकी और कर्मोंके त्यागकी अपेक्षा नहीं रखता परन्तु दोनोंका सहायक हो सकता है। कर्मोंके आश्रय या त्याग किये बिना भी केवल ध्यान योगसे ही मुक्ति हो सकती है।

यह साधन परमोपयोगी और स्वतन्त्र होते हुए भी निष्ठा-रूपसे अलग नहीं माना गया है। अतएव साधकोंको चाहिये कि वे अपने अपने अधिकारानुसार ध्यानयोगसहित दोनों निष्ठाओंमेंसे किसी एकका अवलम्बन कर भगवत्प्राप्तिके लिये प्रयत्न करें।
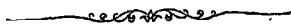
ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

गीतोक्त
निष्काम कर्मयोगका स्वरूप।

दूसरा एक प्रश्न है—

'गीताका निष्काम कर्मयोग भक्तिमिश्रित है या भक्तिरहित ? यदि भक्तिमिश्रित है, तो उसका क्या स्वरूप है ?'

इस प्रश्नपर विचार करते समय आरम्भमें कर्मोंके भिन्न भिन्न स्वरूपों पर कुछ सोच लेनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। कर्म कई प्रकारके हैं, जिनको हम प्रधानतया तीन भागोंमें बांट सकतेहैं। निषिद्धकर्म, काम्यकर्म, और कर्तव्यकर्म।

चोरी, व्यभिचार, हिंसा, असत्य, कपट, छल, जबरदस्ती, अभक्ष्य भक्षण और प्रमादादिको निषिद्धकर्म कहते हैं।

स्त्री पुत्र धनादि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये एवं रोग सङ्कटादिकी निवृत्तिके लिये किये जानेवाले कर्मोंको काम्यकर्म कहते हैं।

ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, यज्ञ, दान, तप, माता पितादि गुरुजनोंकी सेवा, वर्ण तथा आश्रमके धर्म और शरीर सम्बन्धीय खान पानादि कर्मोंको कर्तव्यकर्म कहते हैं।

'कर्तव्यकर्म' भी कामनायुक्त होनेसे काम्य कर्मोंके अन्तर्गत समझे जा सकते हैं परन्तु उनमें वर्णाश्रमके स्वाभाविक धर्म तथा जीविकाके कर्म भी सम्मिलित हैं इसलिये उनके पालन करनेकी मनुष्यपर विशेष जिम्मेवारी रहती है। किसी खास विषयकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोक्त काम्यकर्म करना न करना अपनी इच्छापर निर्भर रहता है इसी लिये इनका अलग अलग भेद है।

इन तीन प्रकारके कर्मोंमें निषिद्धकर्म तो सभीके लिये सर्वथा त्याज्य हैं। मोक्षकी इच्छा रखनेवालोंके लिये काम्यकर्मोंकी कोई आवश्यकता नहीं, रहे 'कर्तव्यकर्म' जो भावोंके भेदसे सकाम और निष्काम दोनों ही होते हैं। जबसे-

सकामकर्म—

—के अनुष्ठानमें प्रवृत्त होनेकी इच्छा होती है, तबसे आरम्भ कर कर्मकी समाप्तिके बाद चिरकाल तक मनमें केवल फलका अनुसन्धान रहता है। ऐसे कर्म करनेवालेकी चित्त-वृत्तियां पद पदपर अपने लक्ष्य, फलको विषय करती रहती है। यदि धनके लिये कर्म होता है, तो उसे पल पलमें उसी धनकी स्मृति होती है। उसका चित्त धनाकार बना रहता है। कर्मकी सिद्धिमें जब उसे धन मिलता है, तब वह हर्षित होता है और जब असिद्धि

होती है, धन नहीं मिलता या अन्य कोई बाधा आ जाती है, तब उसे बड़ा क्लेश होता है। उसका चित्त फलानुसन्धानवाला होने के कारण प्रायः निरन्तर व्यथित और अशान्त रहता है। ऐसे पुरुषका विषयविमोहित-चित्त किसी किसी समय उसे निषिद्ध कर्मोंके करनेमें भी प्रवृत्तकर सकता है। यद्यपि शास्त्रकी आज्ञानुसार कर्मोंका आचरण करनेवाला सकामी पुरुष निषिद्ध कर्मोंका आचरण करना नहीं चाहता, तथापि विषयोंका लोभ बना रहनेके कारण उसके गिर जानेका भय बना ही रहता है। कहीं कर्ममें कुछ भूल हो जाती है, तो उसे सिद्धि तो मिलती ही नहीं, उलटे प्रायश्चित या दुःखका भागी होना पड़ता है। परन्तु—

निष्कामकर्म—

—का आचरण करनेवाले पुरुषकी स्थिति सकामीसे अत्यन्त विलक्षण होती है। उसके मनमें किसी प्रकारकी सांसारिक कामना नहीं रहती, वह जो कुछ कर्म करता है, सो सब फलकी इच्छाको छोड़कर आसक्ति रहित होकर करता है। यहांपर यह प्रश्न होता है कि "यदि उसे फलकी इच्छा नहीं है तो वह कर्म करता ही क्यों है? संसारमें साधारण मनुष्य बिना किसी हेतुके कर्म कर ही नहीं सकता और हेतु किसी न किसी फलका ही होता है। ऐसी स्थितिमें फलकी इच्छा बिना कर्मोंका होना सिद्ध नहीं

होता।' यह ठीक है! साधारण मनुष्यके कर्मोंमें प्रवृत्त होनेमें किसी न किसी हेतुका रहना अनिवार्य है परन्तु हेतुके स्वरूप भिन्न भिन्न होते हैं। सकाम भावसे कर्म करनेवाला पुरुष भिन्न भिन्न फलोंकी कामनासे नानाप्रकारके कर्मोंको करता है, उसके कर्मोंमें हेतु है 'विषय कामना।' और इसी लिये वह आसक्त होकर कर्म करता है, उसकी बुद्धि कामनाओंसे ढकी रहती है (देखो गीता २: ४२, ४३, ४४; ९. २०--२१) इसीलिये वह कर्मकी सिद्धि असिद्धिमें सुखी और दुःखी होता है परन्तु निष्कामभावसे कर्म करनेवाले पुरुषके कर्मोंमें हेतु रह जाता है एक 'परमात्माकी प्राप्ति।' * इसीलिये वह नित्य नये उत्साहसे आलस्य रहित होकर कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, सांसारिक फल कामना न होनेसे वह आसक्त नहीं होता और कर्मोंकी सिद्धि असिद्धिमें उसे हर्ष शोकका विकार नहीं होता, क्योंकि उसका लक्ष्य बहुत ऊंचा हो गया है, वह कर्मके बाहरी फलपर कोई खयाल नहीं करता, उसकी दृष्टिमें संसारके समस्त पदार्थ उस परमात्माके सामने अत्यन्त तुच्छ, मलिन और क्षुद्र प्रतीत होते हैं, वह उस महान्‌से महान् परमात्माकी प्राप्तिकी शुभेच्छामें जगत्‌के

---

* निष्काम कर्मयोगीकी परमात्माको प्राप्त करनेकी कामना परिणाममें परम कल्याणका हेतु होनेके कारण कामना नहीं समझी जाती, भगवत्प्राप्तिकी कामनावाला पुरुष निष्काम ही समझा जाता है।

संपूर्ण बड़ेसे बड़े पदार्थोंकी तुच्छ समझता है (गीता २. ४९)

इसीसे सांसारिक विषयरूप फलोंकी प्राप्ति अप्राप्तिमें उसे हर्ष शोक नहीं होता। सकामी पुरुषकी भांति उससे निषिद्ध कर्म बननेकी भी संभावना नहीं रहती। निषिद्ध कर्मोंमें कारण है 'आसक्ति या लोभ' निष्कामी पुरुष जगत्‌के समस्त पदार्थोंका लोभ छोड़कर उनसे अनासक्त होना चाहता है, वह श्रीपरमात्माको ही एक मात्र लोभकी वस्तु मानता है, उसीमें उसका मन आसक्त हो जाता है अतएव उसकी प्राप्तिके अनुकूल जितने कार्य होते हैं वह उन सबको बड़े उत्साहके साथ करता है। यह निर्विवाद बात है कि परमात्माकी प्राप्तिके अनुकूल तो वेही कार्य हो सकते हैं जिनके लिये भगवान्‌ने आज्ञा दी है, जो शास्त्र विहित हैं, जो किसीके लिये किसी प्रकारसे भी अनिष्ट कारक नहीं होते, ऐसे कर्मोंमें निषिद्ध कर्मोंका समावेश किसी प्रकार भी नहीं हो सकता, इसीलिये निष्कामी पुरुष सकामी पुरुषसे सर्वथा विलक्षण होता है।

सकामी पुरुष जगत्‌के पदार्थोंको रमणीय, सुखप्रद और प्रीतिकर समझकर उन्हें प्राप्त करनेकी इच्छासे, सिद्धिमें सुख और असिद्धिमें दुःख होनेकी प्रत्यक्ष भावनाको लेकर ममतायुक्त मनसे आसक्तिपूर्वक कर्म करता है और निष्कामी पुरुष सब कुछ भगवान्‌का समझकर सिद्धि असिद्धिमें समत्वभाव रखता

हुआ आसक्ति और फलकी इच्छाका त्यागकर भगवान्‌की आज्ञानुसार भगवान्‌के लिये ही समस्त कर्मोंका आचरण करता है। यही सकाम और निष्काम कर्मोंमें भावका अन्तर है।

गीतामें निष्कामकर्मका आरम्भ—

—दूसरी अध्यायके ३९ वें श्लोकसे आरम्भ होता है। ११ से ३० वें श्लोकतक सांख्ययोगका प्रतिपादन करनेके बाद ३१वें श्लोकसे क्षत्रियोचितकर्म करनेके लिये अर्जुनको उत्साहित करते हुए ३८ वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
(गीता २. ३८)

मोहके कारण पाप भयसे भीत अर्जुनको सुख–दुःख, जय-पराजय और लाभ-हानि रूप सिद्धि असिद्धिमें समभाव रखनेसे कोई पाप नहीं होनेकी बुद्धि सांख्यके सिद्धान्तानुसार बतलाकर अगले श्लोकसे निष्काम कर्मयोगका प्रतिपादन आरम्भ करते हैं:-

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥
(गीता २. ३९)

'हे पार्थ! यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी

और अब इसीको निष्काम कर्मयोगके विषयमें तू सुन। इस बुद्धिसे युक्त होकर कर्म करनेसे कर्म बन्धनका भलीभांति नाश-कर सकेगा।'

इसके बादके श्लोकमें निष्काम कर्मयोगकी प्रशंसा करते हुए भगवान्‌ने जरासे भी निष्काम कर्मयोगरूपी धर्मको महान् भयसे त्राण करनेवाला बतलाया। आगे चलकर ४७ वें श्लोकमें कर्मका अधिकार और फलका अनधिकार वर्णन करते हुए ४८ वें श्लोकमें भगवान्‌ने, जो कुछ भी कर्म किया जाय उसके पूर्ण होने न होनेमें तथा उसके फलमें समभाव रहनेका नाम ही 'समत्व' है और इस समत्वभावका कर्मके साथ योग होनेसे ही वह कर्म-योग बन जाता है, ऐसा कहते हुए अर्जुनको आसक्ति त्यागकर सिद्धि असिद्धिमें समबुद्धि होकर कर्म करनेकी आज्ञा दी और आगे उसका फल बतलाया 'जन्म बन्धनसे छूटकर अनामय अमृतमय परमपद परमात्माकी प्राप्ति हो जाना' (देखो गीता २.५१)

इस प्रकार भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके ४७ से ५१ वें श्लोक तक कर्मयोगका विवेचन किया, यद्यपि इस विवेचनमें स्पष्टरूप-से भक्तिका नाम कहीं नहीं आया परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि यह कर्मयोग भक्तिशून्य है। मेरी समझसे गीताका निष्काम कर्मयोग सर्वथा भक्तिमिश्रित है। इतना अवश्य है कि

कहीं कहींपर तो उसका भाव प्रधानरूपसे अच्छी तरह व्यक्त हो गया है और कहीं कहींपर वह गौण होकर अव्यक्त रूपसे निहित है। परमात्माके अस्तित्व और उसे प्राप्त करनेकी शुभ भावना तो सामान्यरूपसे कर्मयोगके प्रत्येक उपदेशमें बनी हुई है। निष्काम कर्मका आचरण ही तभीसे आरम्भ होता है जबसे साधक अपने मनमें परमात्माको पानेकी शुभ और दृढ़ भावना-को लेकर संसारके भोगोंकी प्राप्ति अप्राप्तिमें हर्ष शोकका विचार छोड़कर फलासक्तिका त्यागकर देना चाहता है।

जो कर्म भगवान्‌की प्रीति या प्राप्तिके लिये नहीं होते उनका तो नाम ही कर्मयोग नहीं होता। कर्मयोग नाम तभी सफल होता है जब कर्मोंका योग परमात्माके साथकर दिया जाता है। अवश्य ही गीतामें कर्मयोगकी वर्णन शैली दो प्रकार-की है। किसी किसी श्लोकमें तो भक्ति, प्रधानरूपसे स्पष्ट प्रकट है, किसी किसीमें वह अप्रकटरूपसे स्थित है।

जहां भक्तिका प्रधानरूपसे कथन है वहां 'मुझमें अर्पण करके' 'परमात्मामें अर्पण करके' 'मेरा स्मरण करता हुआ कर्म कर' 'सब कुछ मेरे अर्पणकर' मेरे कर्मकर 'मदर्थ कर्मकर' 'स्वाभाविक कर्मोंद्वारा परमेश्वरकी पूजाकर' 'मेरे आश्रय होकर कर्मकर' 'मेरे परायण हो' आदि वाक्य आये हैं (देखो गीता ३.३०; ५.१०; ८.७; ९.२७–२८;

१२. ६, १०, ११; १८. ४६, ५६, ५७ इत्यादि) जहाँ भक्तिका सामान्य भावसे अप्रकट विवेचन है वहां ऐसे शब्द नहीं आते (देखो गीता २. ४७-४८, ४९-५०, ५१; ३. ७, १९; ४. १४; ६. १; १८. ६, ९ इत्यादि)

इससे यह सिद्ध होता है कि भगवत् भावना दोनोंही वर्णनोंमें हैं और इसीलिये भगवन्नाम, भगवत् शरण और भगवदर्थ आदि भावोंके पर्यायवाची शब्द जिन श्लोकोंमें स्पष्ट नहीं आते उनके अनुसार आचरण करनेसे भी जीवको भगवत्प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि उसका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही होता है; इसमें सन्देह नहीं कि कर्मयोगके साथ स्मरण कीर्तनादि भक्तिका संयोग कर देने पर भगवत्प्राप्ति बहुत शीघ्र होती है और सम्पूर्ण कर्मयोगियोंमें ऐसेही योगी पुरुष उत्तम समझे जाते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(गीता ६।४७)

भगवान् कहते हैं,—

सम्पूर्ण कर्मयोगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है वही मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।

जो इस भावसे स्पष्टरूपमें भक्तिका संयोग नहीं करते उनको भी कर्मयोगसे भगवत्-प्राप्ति तो होती है परन्तु बहुत विलम्बसे होती है। (देखो गीता ४. ३८; ६. ४५)

गीतामें निष्काम कर्मयोगका वर्णन 'समत्वयोग' 'बुद्धियोग' 'कर्मयोग' 'तदर्थ कर्म' 'मदर्थकर्म' 'मदर्पण' 'मत्कर्म' और 'सात्विक त्याग' आदि अनेक नामोंसे किया गया है। इन सबका फल एक होनेपर भी इनके साधनकी क्रियाओंमें भेद है, उदाहरणार्थ यहां—

मदर्पण और मदर्थका भेद—

—कुछ अंशमें बतलाया जाता है। मदर्पण या भगवदर्पण एक है तथा मदर्थ, तदर्थ या भगवदर्थ एक है। इनमें मदर्पण कर्मका स्वरूप तो यह है कि जैसे एक आदमी किसी दूसरे उद्देश्यसे कुछ धन संग्रह कर रहा है और उसके पास पहलेसे कुछ धन संग्रहीत भी है परन्तु वह जब चाहे तब अपने धन संग्रहका उद्देश्य बदल सकता है और संग्रहीत धन किसीको भी अर्पण कर सकता है। मदर्पण कर्ममें कर्मका आरंभ करनेके बाद बीचमें या कर्मके पूरे होनेपर भी उसका अर्पण हो सकता है। भक्तराज ध्रुवजी महाराजने राज्य प्राप्तिके लिये तपरूपी कर्मका आरंभ किया था परन्तु बीचमें ही उनकी भावना बदल गयी, उनका तपरूपी कर्म भगवदर्पण होगया, जिसका फल भगवत्-प्राप्ति हुआ। साथही आरम्भकी इच्छानुसार उन्हें राज्य भी मिलगया परन्तु वह राज्य साधारण लोगोंकी तरहसे बाधक नहीं हुआ। यह भगवदर्पण कर्मकी महिमा समझनी चाहिये। अतएव

आरम्भमें दूसरा उद्देश्य होनेपर भी जो कर्म बीचमें या पीछेसे भगवान्के अर्पण कर दिया जाता है वह भी भगवदर्पण हो जाता है।

मदर्थ या भगवदर्थ कर्ममें ऐसा नहीं होता, वह तो आरम्भसे ही भगवान्के लिये ही किया जाता है। किसी देवताके उद्देश्यसे प्रसाद बनाना या ब्राह्मण भोजनके लिये भोजनकी सामग्रियोंका संग्रह करना जैसे आरंभसे ही एक निश्चित उद्देश्यको लेकर होता है उसी प्रकार भगवदर्थ कर्म करनेवाले साधकके प्रत्येक कर्मका आरम्भ श्रीभगवान्के उद्देश्यसे ही हुआ करता है। भगवदर्थ कर्मके कई भेद अवश्य हैं जैसे भगवत्प्राप्तिके प्रयोजनसे कर्म करना, भगवान् की आज्ञा मानकर कर्म करना, भगवत्सेवा स्वरूप कर्मोंमें नियुक्त होना, और भगवान्की प्रीतिके लिये कर्ममें लगना आदि।

यह तो भक्तिप्रधानकर्मयोगकी बात हुई। इसके सिवा समत्व योग, कर्मयोग और सात्त्विक त्याग आदि शब्द भेदसे सब मिलते जुलतेसे ही वाक्य हैं। द्वितीय अध्यायमें ४७ से ५१ वें श्लोक तक जिसका कर्मयोग आदिके नामसे वर्णन है उसीका अठारहवें अध्यायमें ६ और ९वें श्लोकमें त्यागके नामसे वर्णन है। वास्तवमें फल और आसक्तिका त्याग तो सभीमें रहता है। भक्ति प्रधान या कर्म प्रधान दोनों प्रकारका वर्णन निष्काम कर्मयोगके लिये ही है इससे यह सिद्ध होगया कि—

भगवत्प्राप्तिके लिये किये जानेवाला कर्मही निष्काम कर्मयोग है।

निष्काम कर्मयोगीको परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्तव्य-कर्मोंको छोड़कर एकान्तमें भजन ध्यान करनेकी भी आवश्यकता नहीं रहती। यदि कोई करे तो कोई आपत्ति नहीं है। भजन ध्यान तो सदा सर्वदा ही परम श्रेष्ठ है। परन्तु एकान्तमें भजन ध्यान न करके भगवच्चिन्तन सहित शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंको निरन्तर करता हुआ ही वह साधक परमात्माकी शरणं और उसकी कृपासे परमगतिको प्राप्त हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

(गीता १८. ५६–५७)

'मुझमें परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है इसलिये सब कर्मोंको मनसे मेरे अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्वबुद्धिरूप निष्काम कर्म-

योगका अवलम्बन करके निरन्तर मुझमें चित्त लगानेवाला हो'।

वास्तवमें कर्मोंकी क्रिया मनुष्यको नहीं बांधती; फलकी इच्छा और आसक्तिसे ही उसका बन्धन होता है। यदि फल और आसक्ति न हो तो कोई भी कर्म मनुष्यको बांध नहीं सकता। भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि अपने अपने वर्णधर्मके अनुसार कर्ममें लगा हुआ पुरुष सिद्धिको प्राप्त हो जाता है अवश्य ही कर्म करते समय मनुष्यका लक्ष्य परमात्मामें रहना चाहिये।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८. ४६)

'जिस परमात्मासे सारे भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सम्पूर्ण जगत् जलसे वर्फकी भांति व्याप्त है उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।'

जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पतिको ही अपना सर्वस्व मानकर पतिका ही चिन्तन करती हुई, पतिकी आज्ञानुसार, पतिके लिये ही मन, वाणी, शरीरसे नियत (अपने जिम्मे बंधे हुए) संसारके समस्त कर्मोंको करती हुई पतिकी प्रसन्नता प्राप्त करती है। इसी प्रकार निष्काम कर्मयोगी एक परमात्माको ही अपना

सर्वस्व मानकर उसीका चिन्तन करता हुआ उसीकी आज्ञानुसार मनवाणी शरीरसे उस परमात्माके ही लिये अपने कर्तव्य कर्मका आचरणकर परमात्माकी प्रसन्नता और परमात्माको प्राप्त करता है।

समस्त चराचरमें—सम्पूर्ण भूत प्राणियोंमें परमात्माको व्यापक समझकर—सभीको परमात्माका स्वरूप मानकर अपने कर्मोंद्वारा निष्काम कर्मयोगी भक्त भगवान्‌की पूजा करता है। एक महाराजाधिराज सम्राटकी प्रसन्नता सम्पादन करनेके लिये इस बातकी आवश्यकता नहीं होती कि उसके सभी कर्मचारी एक ही प्रकारका कार्य करें, सभी दीवान बनें या सभी सेनापति हों। अपनी अपनी योग्यतानुसार जिसके जिम्मे जो काम महाराजके द्वारा सौंपा हुआ है, उसे अपने उसी कामसे महाराजको सन्तुष्ट करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। उसे चाहिये कि वह दूसरेके अच्छेसे अच्छे कामकी ओर तनिक भी न ताककर प्रभुकी प्रसन्नताके लिये अपना काम कुशलताके साथ करे। राजदरबारका एक विद्वान् पण्डित वेद गान सुनाकर राजाको जितना प्रसन्नकर सकता है उतना ही महलोंमें झाड़ू देनवाला राजाका परम आज्ञाकारी मामूली वेतनका नौकर भी महलोंकी सफाई सुथराई रखकर कर सकता है। अपना कर्तव्यकर्म छोड़नेकी किसीको भी आवश्यकता नहीं।

आवश्यकता है प्रभुको प्रसन्न करनेके लिये स्वार्थ छोड़कर अपने कर्तव्यकर्म उस प्रभुके अर्पण करनेकी। यही अपने कर्मोंसे परमात्माकी पूजा है और इसीसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

निष्काम कर्मयोगीका लक्ष्य रहता है केवल एक परमात्मा। जैसे धनका लोभी मनुष्य अपने प्रत्येक कर्ममें धनकी प्राप्तिका उपाय ही सोचता है किसी तरह धन मिलना चाहिये केवल यही भाव उसके मनमें निरन्तर रहता है। जिस काममें रुपये लगते हैं, रुपये नहीं आते या उनके आनेमें कुछ बाधा होती है उस कामके वह समीप भी जाना नहीं चाहता। वह केवल उन्हीं कार्योंको करता है जो धनकी प्राप्तिके अनुकूल या सहायक होते हैं। इसी प्रकार निष्काम कर्मयोगी भी 'आठ पहर चौंसठ घड़ी' मन, वाणी, शरीरद्वारा उन्हीं सब कर्मोंको करता है जो ईश्वरको सन्तुष्ट करनेवाले होते हैं, वह भूलकर भी परमात्माकी प्राप्तिमें बाधक चोरी, जारी, झूठ, कपट मादक द्रव्यसेवन और अभक्ष्य भक्षणादि निषिद्ध कर्मोंको और व्यर्थ समय नष्ट करनेवाले प्रमादादि कर्मोंको नहीं करता। करना तो दूर रहा, ऐसे कार्य उसे किसी तरह सुहाते ही नहीं। वह निरन्तर उन्हीं न्याययुक्त और शास्त्रविहित कर्मोंके सोचने और करनेमें प्रवृत्त रहता है जो उसके चरमलक्ष्य परमात्माकी प्राप्तिके अनुकूल और उसमें

सहायक होते हैं। वह दूसरेके सुहावने और मान बड़ाईवाले कर्मोंकी ओर लोलुपदृष्टिसे कभी नहीं देखता। चुपचाप स्वाभाविक ही अपने कर्तव्यकर्मको करता चला जाता है। वह यह नहीं देखता कि अमुक कर्म छोटा है, अमुक बड़ा है क्योंकि वह इस बातको जानता है कि कर्मोंका स्वरूप परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु नहीं है, उसमें हेतु है अन्तःकरणका भाव। भावसे ही मनुष्यका उत्थान और पतन होता है। इसीलिये वह दूसरेकी देखादेखी किसी भी ऐसे ऊंचेसे ऊंचे कर्मको भी करना नहीं चाहता जो उसके लिये विहित नहीं है। वह यह नहीं देखता कि मेरे कर्ममें अमुक दोष है। दूसरेका अमुक कर्म सर्वथा निर्दोष है, वह समझता है कि दूसरेके गुणयुक्त उत्तम धर्मकी अपेक्षा अपना गुणरहित धर्म ही अपने लिये श्रेष्ठ और आचरण करने योग्य है। स्वधर्मके पालनसे मनुष्यको पाप नहीं लगता (देखो गीता १८. ४७) आजकल इस निष्काम कर्मके रहस्यको न समझकर ही लोग सबको एकाकार करनेकी व्यर्थ चेष्टामें लगे हुए हैं।

श्रीभगवान्‌ने कहा है:—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा ही दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥
(गीता १८. ४८)

'दोषयुक्त भी कर्तव्यकर्म नहीं त्यागना चाहिये क्योंकि

धूमसे (ढकी हुई) अग्निके समान सभी कर्म किसी न किसी दोषसे ढके हुए होते हैं । '

जो मनुष्य जिस वर्णमें उत्पन्न हुआ है उसके स्वाभाविक कर्म ही उसका स्वधर्म है, भारतवर्षकी सुव्यवस्थित वर्णव्यवस्था इसका परम आदर्श है । जो लोग इस वर्ण व्यवस्थाको तोड़नेका प्रयत्न करते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं, जगत्‌में भेद तो कभी मिट नहीं सकता, व्यवस्थामें विशृङ्खलता अवश्य ही हो सकती है जो और भी दुःखदायिनी होती है ।

जिस जाति या समुदायमें मनुष्य उत्पन्न होता है, जिन माता-पिताके रजवीर्यसे उसका शरीर बनता है, जन्मसे लेकर अपने कर्तव्यको समझनेकी बुद्धि आनेतक जिन संस्कारोंमें उसका पालन पोषण होता है प्रायः उसीके अनुकूल कर्मोंमें उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति और उत्साह होता है इस लिये वही उसका स्वभाव या प्रकृति समझी जाती है और इस स्वभाव या प्रकृतिके अनुकूल विहितकर्मोंको ही गीतामें, स्वधर्म, सहजकर्म, स्वकर्म, नियतकर्म, स्वभावजकर्म, और स्वभावनियतकर्म आदि नामोंसे कहा है । साधक पुरुषका जन्म यदि व्यवस्थित वर्णयुक्त समाजमें हुआ हो तब तो उसे अपना सहजकर्म समझ लेनेमें बड़ी सुगमता है, ऐसा न होनेपर उपर्युक्त हेतुओंसे अपनी प्रकृतिके अनुसार स्वधर्म निश्चित कर लेना चाहिये ।

बस, इसी स्वधर्मके अनुसार आसक्ति और स्वार्थरहित होकर अखिल जगत्‌में परमात्माको व्यापक समझकर सबकी सेवा करनेके भावसे अपना अपना कर्तव्यकर्म मनुष्यको करना चाहिये।

एक वैश्य है, दूकानदारी करता है, व्यवसाय उसका कर्तव्य-कर्म है। परन्तु वह कर्तव्यकर्म, निष्काम कर्मयोगकी श्रेणीमें तभी आ सकता है जब कि वह स्वार्थबुद्धिसे न होकर केवल परमात्माकी सेवाके निर्मल भावसे हो। दूकानदारी छोड़कर जङ्गलमें जानेकी आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है मनके भावोंको बदलनेकी। स्वार्थ और कामनाका कलंक धो डालने-की। जिस दिन सांसारिक स्वार्थकी जगह मनमें परमात्माको स्थान मिल जाता है उसी दिन उसके वे कर्म, जो बन्धनके कारण थे, स्वरूपसे वैसे ही बने रहकर भी परमात्माकी प्राप्तिके कारण बन जाते हैं।

पारा और संखिया अमृतका सा काम दे सकता है यदि वह चतुर वैद्यके द्वारा शोधकर शुद्धकर लिया जाय। जिस पारे या संखियेके प्रयोगसे मनुष्यकी मृत्यु होती है वही पारा या संखिया विषभागके निकल जानेपर अमृत बन जाता है। इसी प्रकार जहांतक कर्मोंमें स्वार्थ और आसक्ति है वहींतक उनसे बन्धन या मृत्यु प्राप्त होती है जिस दिन स्वार्थ और आसक्ति निकाल

कर कर्मोंकी शुद्धिकर ली जाती है उसी दिन वे अमृत बनकर मनुष्यको परमात्माका अमर पद प्रदान करनेमें कारण बन जाते हैं। इसीलिये किसी भी कर्तव्यकर्मके त्यागकी आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है बुद्धिको शुद्ध करनेकी ! एक मनुष्य सकामभाव-से यज्ञ दान तप करता है और दूसरा एक मनुष्य केवल अपने वर्णका कर्म भिक्षा, युद्ध, व्यापार या सेवा करता है परन्तु करता है सबमें परमात्माको व्यापक समझकर सबको सुख पहुंचाने और सबकी सेवा करनेके पवित्र भावसे तो वह उस केवल यज्ञ, दान, तप करनेवालेकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, क्योंकि उसके कामना न होनेके कारण सिद्धि असिद्धिमें समभाव रहता है और निरन्तर परमात्माकी भावना तथा परमात्माकी आज्ञाका ध्यान रहनेसे लोभ और आसक्ति भी पास नहीं आसकते। लोभ और आसक्तिके अभावसे उसके द्वारा पाप या निषिद्ध कर्मोंका होना तो सम्भव ही नहीं होता।

यहां मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि यज्ञ, दान, तप नहीं करने चाहिये या ये क्षुद्र साधन हैं। ये तो सर्वथा ही उत्तम हैं और अन्तःकरणकी शुद्धिमें तथा परमात्माकी प्राप्तिमें बड़े सहायक हैं परन्तु ऐसा होता है उनका प्रयोग निष्कामभावसे करनेपर ही। अतएव यहां जो कुछ लिखा गया है वह केवल निष्काम कर्मयोगकी सच्ची महिमा बतलानेके लिये ही लिखा गया है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह भी सिद्ध हो गया कि निष्काम कर्मयोगीसे जान बूझकर तो पाप नहीं बन सकते परन्तु यदि कहीं भूल, स्वभाव, अज्ञान या भ्रमसे कोई पाप बन भी जाता है तो वह उसके लागू नहीं होता क्योंकि उसका उस कर्ममें कोई स्वार्थ नहीं है। स्वार्थरहित कर्मोंका अनुष्ठान कर्ताको बांध नहीं सकता (देखो गीता ४.१४; ५.१०) पक्षान्तरमें उसका प्रत्येक कार्य भगवदर्पण होनेके कारण वह परमात्माका सर्वथा कृपापात्र बन जाता है।

राजाके अनेक कर्मचारी होते हैं सबको योग्यतानुसार वेतन मिलता है और सभी पर राजाके किसी न किसी कामकी जिम्मेवारी रहती है। परन्तु प्रत्येक वैतनिक कर्मचारी राज नियमोंसे बँधा हुआ रहता है यदि भूल या अज्ञानसे भी किसी नियमको कोई कर्मचारी भंग कर देता है तो उसे नियमानुसार दण्डका भागी होना पड़ता है। पर एक ऐसा मनुष्य जो किसी समय किसी प्रकारसे भी राज्य या राजासे कुछ भी स्वार्थ सिद्ध न कर केवल अहैतुकी राजभक्तिके कारण राजसेवा करता है, उसकी निःस्वार्थ सेवापर राजा मुग्ध रहता है। उसके द्वारा यदि समयपर कोई प्रमाद या भूल हो जाती है तब भी भला राजा उससे नाराज नहीं होता, राजा समझता है कि यह तो राज्यका निःस्वार्थ सेवक है, ऐसा सेवक

यदि भूलके लिये दण्ड चाहता है तो राजा कहता है भाई ! हमतो तुम्हारे उपकारोंसे ही अत्यन्त दबे हुए हैं तुम्हारी एक भूलका तुम्हें क्या दण्ड दें। इतना ही नहीं बल्कि राजा उसके उपकारोंसे अपनेको उसका ऋणी समझकर सब तरहसे उसका हित ही करना चाहता है। इसी प्रकार जो परमात्माका निःस्वार्थ सेवक है, जो अपने प्रत्येक कर्मका समर्पण उस परमात्माकी प्रीतिके लिये उसीके चरणोंमें कर देता है। उससे यदि कोई भूल होती है तो उसपर अकारण सुहृद परमात्मा कोई ध्यान नहीं देते। यह अनियम नहीं है किन्तु स्वार्थरहित सेवकके लिये यही नियम है।

इस प्रकार परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्तव्य कर्मोंका आचरण करता हुआ साधक शेषमें परमात्माको प्राप्त हो जाता है परन्तु ऐसे परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्तके द्वारा भी लोकशिक्षा-के लिये राजा जनकादिकी भांति आजीवन कर्म हो सकते हैं। (देखो गीता ३. २०) यद्यपि उनके लिये कोई कर्म शेष रह नहीं जाते (गीता ३. १७) परन्तु जहांतक मन और इन्द्रियां सचेत रहती हैं वहांतक उनके लिये कर्म त्याग करनेमें कोई हेतु नहीं देखा जाता। कर्मयोगकी सिद्धिको प्राप्त जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण साधारण पुरुषोंकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण होते हैं (देखो गीता २. ५५ से ५८; १२. १३, १९)

ऐ [illegible] महापुरुष [illegible] गीता तृतीय अध्यायके २५ वें श्लोकके अनुसार केवल लोकसंग्रहार्थ ही होते हैं और वे कर्म कामना और संकल्पसे शून्य होनेके कारण स्वरूपसे होते हुए भी वास्तवमें कर्म नहीं समझे जाते (देखो गीता ४. १९–२०)

इस प्रकार निष्काम कर्मयोगका साधक परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्मोंको परमात्मामें अर्पण कर देनेके कारण अन्तमें परमात्माके प्रसादसे परमात्माको पा जाता है, जिस कर्ममें आदिसे लेकर अन्त तक परमात्माका इतना नित्य और अविच्छिन्न सम्बन्ध है वह कर्म भक्तिरहित कभी नहीं हो सकता। अतएव गीताका निष्काम कर्मयोग सर्वथा भक्तिमिश्रित है।

–तथा–

'फल और आसक्तिको त्यागकर भगवान्‌की आज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्व बुद्धिसे शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंका करना ही उसका स्वरूप है।'

कल्याणका भगवन्नामाङ्क

११० पेज,

सादे और रंगिन ४१ चित्र।

बड़े बड़े सन्तों और विद्वानोंके

महत्वपूर्ण लेख।

तीर्थों, मन्दिरों और पाठशालाओंमें बांटनेलायक

अपूर्व वस्तु।

मूल्य १।) प्रति

व्यवस्थापक 'कल्याण'

गीताप्रेस, गोरखपुर।